E-LECTURE

UNIT 5

HISTORY OF INDIA (650-1206 A.D.)

Dr. NANDANI PATHAK

SOS ARCHAEOLOGY DEPARTMENT

16.04.2020

चोल राजवंश : प्रशासन एवं संस्कृति

दक्षिण भारत के सुदूर तमिल प्रदेश में प्राचीनकाल में जिन राजवंशों का उत्कर्ष हआ. उनमें चोलो का विशिष्ट स्थान है। इसका प्राचीन राज्य चोल देश चोडमण्डलम पेन्नार तथा वेल्लास नदियों के बीच स्थित था। चोडमण्डलम अथवा चोल राज्य मोटे तौर पर पेन्नार एवं वेल्लास नदियों के मध्य स्थित था। यह राज्य पूर्वी-समुद्रतट से जुड़ा हुआ था। इसके प्रमुख राजनीतिक केन्द्रों में कावेरीपट्टनम् (कावेरी नदी के तट पर), उरगपुर (त्रिचनापल्ली के निकट वर्तमान उरैयूर), तंजवुर (तंजोर अथवा थंजावुर), काञ्ची तथा गंगैकोंड चोलपुरम आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। चोल राज्य दक्षिण भारत में एक कबायली शक्ति के रूप में प्राक्मौर्यकाल में भी विद्यमान था। महाभारत तथा मेगास्थनीज विरचित इण्डिका में चोलों का उल्लेख मिलता है। अशोक के कुछ अभिलेखों में चोलों को दक्षिण भारत में उसके साम्राज्य के अन्तर्राज्यों (सीमान्त राज्यों) में परिगणित किया गया है। अशोक के शिलालेखों के अतिरिक्त सिंहली बौद्ध महाकाव्य महावंश में भी चोलों का उल्लेख मिलता है। संगम-युगीन साहित्य (लगभग 100 से 300 ई० के मध्य) में तमिलभाषी चेर (केरल) पाण्डव (दक्षिण तमिलनाडु) राजवंशों के साथ चोल राजवंश का विशद उल्लेख मिलता है परन्तु ईसा की तीसरी शती से नौंवी के अन्त तक चोल राजवंश का इतिहास लगभग असम्बद्ध एवं अज्ञात सा है।

चोलों का राजनीतिक इतिहास संगम काल से स्पष्ट होने लगता है। इस काल का प्रथम शासक करिकाल (190 ई०) है। करिकाल अत्यन्त प्रतापी तथा युद्धवीर शासक था। उसका वाहैप्परन्दलै संघर्ष तथा अरुवालरो के विरुद्ध सैन्य प्रयास उल्लेखनीय है। करिकाल वैदिक मत का अनुयायी

था तथा ब्राह्मणों व कवियों का पर्याप्त आदर करता था। इसके समय में चोल राजधानी उरैयूर से हटाकर कावेरीपट्टनम में स्थापित की गयी थी। महान चोल शासकों में विजयालय का नाम उल्लेखनीय है। उसने उरैयूर को केन्द्र मानकर अपनी शक्ति का विस्तार किया तथा ऐसे चोल साम्राज्य की स्थापना की जो आगमी लगभग दो सौ वर्षों तक दक्षिण भारत में एक प्रमुख शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित रहा। विजयालय के पश्चात् लगभग 870-71 ई० में इसका पुत्र आदित्य प्रथम सिंहासन पर बैठा। आदित्य प्रथम की मृत्यु के पश्चात् परान्तक प्रथम (907-937 ई०) में सिंहासन पर बैठा। बेलूर के युद्ध में विजयश्री प्राप्तकर परान्तक प्रथम ने मुदुरइकोण्ड की उपाधि धारण की। पल्लवों की शक्ति को नष्ट करके उसने नेलोर तक अपने राज्य का विस्तार किया। परान्तक प्रथम के पश्चात् उसका पुत्र गण्डरादित्य सिंहासन पर बैठा। इसने 935 ई० से लेकर 957 ई० तक राज्य किया। इसके पश्चात् इसके भाई अरिन्जय ने कुछ माह तक राज्य किया। इसके पश्चात् परान्तक द्वितीय राजा हआ। इसने 957 ई० से लेकर 973 ई० तक शासन किया। परान्तक द्वितीय ने पाण्ड्य-नरेश वीर पाण्ड्य को पराजित किया। लंका नरेश को भी परान्तक ने पराजित किया। परान्तक द्वितीय की मृत्यु के बाद उत्तम चोल ने 973 ई० से लेकर 985 ई० तक शासन किया।

चोल साम्राज्यवाद का प्रारम्भ राजराज प्रथम के 985 ई० में सिंहासनारूढ होने के बाद से हुआ। यह सुन्दर चोल परान्तक द्वितीय का पुत्र था। उसने सिंहासन प्राप्त करने के पश्चात राजराज की उपाधि प्राप्त की । इसने अपने शासनकाल(985-1014) में एक छोटे से चोल राज्य को एक साम्राज्य में परिवर्तित कर दिया। यह अपने समय का एक महापराक्रमी राजा सिद्ध हुआ। कुशल प्रशासक होने के कारण उसका सम्पूर्ण प्रसाशन विकेन्द्रीकरण की नीति पर आधारित था। इसके अनुसार उसने ग्रामों और नगरों को स्वायत्त शासन दे रखा था।

राजेन्द्र चोल)1012-1044ई का शासन काल चोलशक्ति की पराकाष्ठा पर पहुंच गया था। वह भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध विजेता था। उसका सबसे पहला कार्य अपने पुत्र राजाधिराज प्रथम को युवराज-पद पर नियुक्त करना था पूर्णरूप से चोल राजत्व का अधिकारी वह राजेन्द्र प्रथम की मृत्यु के बाद 1044 ई० में बना। राजाधिराज ने चोलशासन के विरुद्ध संघर्ष का बडी क्रूरता से दमन किया। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उत्तराधिकार में प्राप्त लंका साम्राज्य को उसने अपनी शासन-अवधि में सुरक्षित रखा। 1044 ई० और 1046 ई० के मध्य में राजाधिराज को सोमेश्वर प्रथम के साथ भी यद्ध करना पड़ा। वह एक सफल योद्धा सिद्ध हुआ। राजाधिराज के अनेक पुत्र थे जो उसके शासनकाल ही में महत्वपूर्ण सैनिक और प्रशासकीय किन्तु उसने अपने जीवन काल में युवराजत्व अपने किसी पुत्र को न देकर अपने भाई राजेन्द्र को ही प्रदत्त किया था।

राजेन्द्र द्वितीय - (1055 ई०-1063 ई०) ने शासन संचालन का कार्य 1054-55 ई० के लगभग प्रारम्भ करदियाअपने राजत्व और शासन की दृढ़ता के लिये उसने अपने प्रमुख सम्बन्धियों को शासन और सेना में महत्वपूर्ण पद दिये। चोल सैनिकों ने चालुक्यो का प्रसार रोक दिया और गुडक्कारू के संग्राम में चालक्यों को1062ई में बुरी की तरह पराजित किया। राजेन्द्र द्वितीय ने अपना उत्तराधिकारी वीर राजेन्द्र को बनाया। वीर राजेन्द्र ई०(1063 ई०-1070 ई०) के इस

शासन काल में चोलों की चालुक्यों के प्रति शत्रता की भावना बलवती रही। इसका प्रथम युद्ध चालुक्य राज्य सोमेश्वर प्रथम से हुआ। चोल विजय रहे

वीर राजेन्द्र की मृत्यु के पश्चात् 1070 ई० में उसका पुत्र अधिराजेन्द्र राजपीठ पर बैठा और केवल कुछ मास तक ही शासन कर सका। इसका शासन लोकप्रिय था। सम्भवतः वह किसी विद्रोह में ही मार डाला गया इसके शासन के अन्त में विजयालय चोल परम्परा का भी अन्त हुआ। इसके बाद चोल राजपीठ पर कुलोत्तुंग प्रथम का अधिकार हो गया। कुलोत्तुंग प्रथम (1070 ई०-1122 ई०) के पिता राजेन्द्र प्रथम की 1060 ई० में हो गयी। अगले दशक तक अज्ञात राजनीतिक परिस्थितियों में कुलोत्तुंग प्रथम का समय गुजरा। कलोत्तुंग और वीर राजेन्द्र में अच्छा सम्बन्ध था और वेंगी पर वीर राजेन्द्र की प्रभुत्व स्थापना में उसका सक्रिय सहयोग था। कहा जाता है कि राजेन्द्र ने कुलोत्तुंग को अपना युवराज और उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था। किन्तु यह गलत है। इसका कोई सुपुष्ट प्रमाण नहीं है। चोलों की आन्तरिक अशान्ति का कुलोत्तुंग ने लाभ उठाया और प्रजा में लोकप्रियता प्राप्त करके 9 जून, 1070 ई० में चोल राजपीठ का स्वामी बन बैठा। कुलोतुंग ने आन्तरिक शान्ति और सुरक्षा पर अधिक ध्यान देकर अपने दीर्घकालीन शासन को लोकप्रिय बनाया। कुलोत्तुंग की सबसे बड़ी राजनीतिक सफलता थी, बेंगी पर चोलों के अधिकार की स्थापना।

कुलोत्तुंग के बाद **विक्रम चोल** (1120 ई०-1135 ई०) चोल राजपीठ पर आसीन रहा। उसने 1126-27 ई० में अपने पूर्वजों द्वारा अधिकृत वेंगी राज्य को जीतने के लिये कल्याणी के चालुक्य शासक सोमेश्वर तृतीय के साथ युद्ध किया। उसने युद्ध में विजयश्री प्राप्त कर वेंगी राज्य को पुन: चोल साम्राज्य के अधीन कर लिया। अपनी उक्त सामरिक सफलताओं से उत्साहित विक्रम चोल ने होयसलों को पराजित करके गंगवाडी राज्य के कोलारक्षेत्र को विशाल चोल राज्य में सम्मिलित कर लिया। 1133 ई० में विक्रम चोल ने अपने पुत्र कुलोत्तुंग द्वितीय को युवराज पद पर नियुक्त कर लिया। 1135 ई० में उसे उत्तराधिकार प्राप्त हुआ। उसका शासन काल (1133-1150 ई०) अपेक्षाकृत शान्तिमय रहा। वह जीवन में महान् शैवधर्मानुयायी था। वह महान साहित्यानुरागी भी था। उसने ऐक्किलार तथा ओत्तक्कुत्तन, कम्बन आदि महान रचनाकारों को राजकीय संरक्षण प्रदान किया था। कलोत्तंग द्वितीय के बाद राजराज द्वितीय चोल राजपीठ पर आसीन हआ। इसका और इसके उत्तराधिकारी राजाधिराज द्वितीय का शासनकाल (1173-1179 ई०) एक ऐसे युग में था जिसमें किसी तरह चोलों का साम्राज्य विघटित होने से बचा रहा। उस युग में चोलों की राजनीति मुख्यतया पाण्डयों के गृहयुद्ध में उलझी रही और इस गृह-युद्ध के कारण उन्हें पुनः लंका के समकालीन राजाओं से बैर-भाव मोल लना पड़ा। पाण्डय राजपीठ के लिये पराक्रम पाण्ड्य और कुलशेखर के बीच बड़ी प्रतिद्वन्द्विता थी। पाण्ड्य राजनीति में पडकर चोलों को एक दीघीलीन अर्थात् 1169 से 1177 ई० तक युद्ध में व्यस्त रहना पड़ा। राजाधिराज द्वितीय की 1178 ई० में मृत्यु हो गयी और उसके पश्चात् **कुलोत्तुंग तृतीय** चोल सिंहासन पर बैठा। परिस्थितिवश इसे भी पाण्डयों के उत्तराधिकार युद्ध में रुचि लेनी पड़ी। यद्यपि पाण्ड्य नपति वीर पाण्ड्य कुलोत्तुंग तृतीय के ही सहयोग से पाण्ड्य राजपीठ को प्राप्त कर सका था किन्त बाद में वह लंका के राजा से

मिलकर कलोत्तुंग के साथ षड्यन्त्र रचने लगा ऐसी स्थिति में कुलोत्तुंग ने बलात् वीर पाण्डय को पाण्ड्य राज्यपीठ से पद च्युत किया और कलशेखर के एक सम्बन्धी विक्रय पाण्ड्य को 1182 ई० में पाण्डयों का राजा बनाया।

वीर पाण्डय ने 1189 ई० के निकट कुलोत्तुंग और विक्रम चोल का विरोध किया और लंका के राजा निश्शमल्ल ने तीन बार पाण्ड्य जनपद को आक्रान्त किया किन्तु परिणाम कुछ न निकला। कुलोत्तुंग तीय ने वीर पाण्डय के विद्रोह का दमन किया और लंका की सेना को पाण्ड्य जनपद से पलायित किया। 1190-1194 ई० की अवधि में कोंगु जनपद पर चोलों की प्रभुसत्ता पुनः स्थापित हो गयी। कलोत्तुंग तृतीय ने तेलुगु चोडो से काञ्ची को मुक्त कर लिया। 1208 ई० में उसने आन्ध्र प्रदेश को भी आक्रान्त किया। किन्तु शासन के अन्तिम वर्षों में उसको पुनः पाण्ड़यों की राजनीति में फसना पड़ा। कुलोत्तुंग तृतीय के विरुद्ध जयवर्मा के भाई मारवर्मा सुन्दर पाण्ड्य ने 1215-16 ई० में आक्रमण कर दिया। मारवर्मा का यह आक्रमण इतना प्रबल था कि चोल कुलोत्तुंग पराजित हो गया। वस्तुतः कुलोत्तुंग तृतीय के बाद चोल राजवंश की स्थिति डांवाडोल हो गयी| कुलोत्तुंग का उत्तराधिकारी त्रिभुवन चक्रवर्तिन राजराजदेव तृतीय था| इसका राजत्व(1216-1246 ई)

बड़ी विषम स्तिथि में गुजरा | पश्चिम में होयसलो की शक्ति उन्नति पर थी। दक्षिण में पाण्ड्य चोलों अस्तित्व के विरुद्ध सक्रिय थे। इन बढ़ती हुयी कठिनाइयों की तुलना में राजराज तृतीय न प्रबल योद्धा था न कुशल राजनीतिज्ञ। इसकी निर्बलता के कारण विद्रोही सामन्तों का उदय हो रहा था। राजराज तृतीयने1256 ई० तक शासन किया। इसके बाद उत्तराधिकार राजेन्द्र तृतीय को मिला। राजराज तृतीय ने राजेन्द्र तृतीय की युवराज नियुक्त किया और वह 1258 ई० से 1279 ई० तक पाण्ड्यों के अधीन किसी प्रकार गंगैकोंड चोल प्रारम्भ से शासन करता रहा। अन्तत :1279 ई० में जरावर्मा सुन्दर पाण्ड्य प्रथम के उत्तराधिकारी मारवर्मा कुलेशखर द्वारा पूर्णतया पराजित कर दिया गया और इसकी राजनीतिक महत्ता समाप्त हो गयी। अब वह सम्राट् न होकर पाण्ड्यों का सामन्त मात्र रह गया। जरावर्मा सुन्दर पाण्ड्य प्रथम का चोल साम्राज्य पर अन्तिम आक्रमण था। इससे चोलों की शताब्दियों से संचित प्रतिष्ठा एवं कीर्ति सदा के लिये धूल में मिल गयी

चोल प्रशासन –चोलो के सुविस्तृत साम्राज्य का स्थायित्व बहुत कुछ उनके सुनिश्चित शासन तंत्र पर ही आधृत्त था |चोल शासन प्रणाली पर मुख्य रूप से इनके अभिलेखों,साहित्यिक ग्रन्थों तथा विदेशी यात्रियों के वृत्तान्तों से प्रकाश पड़ता है।

चोल केन्द्रीय प्रशासन : राजा का प्रशासन में सर्वोच्च स्थान -इस काल में शासन का स्वरूप राजतन्त्रात्मक था, जिसमें राजा का स्थान सर्वोपरि था तथा चक्रवर्तिगल, त्रिलोक सम्राट, उरैयार जैसी सम्प्रभता सम्पन्न उपाधियां धारण करता था। उत्तराधिकार के लिये कभी-कभी गृहयुद्ध होते थे। परन्तु सामान्यतया राजवंश के ज्येष्ठ पुत्र को ही उत्तराधिकार प्रदान करने की परम्परा प्रचलित थी। प्रायः राजा अपने शासन काल में ही अपने ज्येष्ठ पुत्र को 'युवराज' पद पर अभिषिक्त कर देता

था। राजा युवराज के अतिरिक्त अन्य राजकुमारों को महत्वपूर्ण प्रान्तों का शासक नियुक्त कर देता था। इसी प्रकार साम्राज्य के उच्चतम पदाधिकारियों की नियुक्ति एवं उनकी पदमुक्ति भी राजा स्वयं ही करता था। उच्चाधिकारियों को उनकी सेवा के लिये उन्हें निश्चित वेतन न देकर वांछित भूखण्ड प्रदान किया जाता था। साम्राज्य की सम्पूर्ण सत्ता का स्रोत राजा था। सामान्यतया उसका पद पैतृक था किन्तु कदाचित् राजा योग्यता के आधार पर छोटे पुत्रों को भी युवराज घोषित कर देता था। चोल राजाओं की राजसभा अपने वैभव के लिये प्रसिद्ध थी। उसमें मन्त्री, सामन्त और उच्च पदाधिकारी सभी उपस्थित होते थे। चोल राजा सामान्यतः शानदार एवं तड़क-भड़क जीवन व्यतीत करते थे। राजा लोकोपकारी एवं धार्मिक कार्यों में भी रुचि लेता था। राजत्व के आदर्श से वह कभी च्युत नहीं होता था। मन्दिर के निर्माण, कृषि योग्य नवीन भूमि बनाने, सिंचाई के कार्यों को प्रोत्साहित करने, पाठशालाओं एवं चिकित्सालयों की स्थापना तथा अन्यान्य सार्वजनिक कार्यों में शासक रुचि प्रदर्शित करता था।

यद्यपि चोल अभिलेखों में कोई मन्त्रिमण्डल का उल्लेख नहीं है. तथापि चोल शासन में 'उदनकट्टम' का उल्लेख है। यह पदाधिकारियों की कार्यकारिणी प्रतीत होती है। चोल पदाधिकारी भी अनेक उपाधियां धारण करते थे। वे राजा के बहुत निकट थे तथा राजा प्रत्येक कार्य इनकी सम्मति से करता था। राजा समय-समय पर साम्राज्य का दौरा करता था। परम शक्तिमान होते हुये भी चोल नरेश निरंकश शासक नहीं था।

न्याय एवं दण्ड व्यवस्था-चोल राजाओं ने एक सव्यवस्थित न्याय प्रणाली विकसित की। यद्यपि राजा न्यायव्यवस्था में सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं अन्तिम व्यक्ति था, पर मख्य रूप से इसे निगमों तथा समान द्वारा सम्पादित किया जाता था। ऐसे मामलों में गांव सभाओं को बडे अधिकार प्राप्त थे। न्याय सम्पादन काल न्याय समितियां गठित थीं। इसे 'न्यायजार' कहा गया है। कई चोल अभिलेखों में धर्मासन का उल्लख किया गया है। इससे न्याय के लिये राजा के दरबार का तात्पर्य है। धर्मासन के सामने न्यायार्थ जो वाद (मुकदमे) आते थे. उनके निर्णय के लिये स्मृति ग्रन्थों के विद्वानों से सहायता ली जाती थी। सामान्यतः वादो मुकदमो को ग्राम सभा में ही निर्णय किया जाता था। यदि कोई पक्ष ग्राम सभा के निर्णय से सन्तुष्ट नही होता था तो वह मामले को राजा द्वारा 'नाडु' के प्रशासन के लिये नियुक्त अधिकारियों के पास ले जाता था। आमतौर पर उनका फैसला मान लिया जाता था। राजा के पास निर्णय के लिये कुछ ही मामले भेजे जाते थे।

चोलों की दण्ड व्यवस्था सामान्यतः सरल थी। अधिकांश अपराधों के अर्थदण्ड या मन्दिरों में दीप जलाने का आदेश दिया जाता था। मृत्युदण्ड सामान्यत: अप्रचलित थे। हत्या आगजनी. लटपाट, मन्दिरों की चोरी आदि जैसे अपराधों में भी अर्थदण्ड दिया जाता था। राजद्रोह जैसे अपराध में भी अपराधी की सम्पत्ति ही जप्त की जाती थी। कछ अपराधों को अवश्य जघन्य माना जाता था। चोरी तथा जालसाजी के मामलों में दोषी व्यक्ति का सामाजिक बहिष्कार कर दिया जाता था तथा उसे ग्राम समितियों की सदस्यता से वंचित रखा था।

राजस्व का स्रोत - भूमिकर तथा मकानकर राजस्व के प्रधान स्रोत थे। भूमिकर के निर्धारण तथा उसे पुनर्मूल्यांकन के लिये समय-समय पर भूमि की पैमाइश तथा उसका वर्गीकरण किया जाता था। भूमिकर के निर्धारण के समय जमीन की किस्म, उर्वरता आदि का बराबर ध्यान रखा जाता था। भूमि को बारह से अधिक किस्मों में विभाजित किया गया था। भूमिकर की दर क्या थी स्पष्ट ज्ञात नहीं है। नीलकण्ठ शास्त्री के अनुसार कर की मात्रा उपज का 1/3 थी। चोल लेखों में भूमिकर के साथ-साथ जनता से नियमित लिये जाने वाले कई प्रकार के करों का भी उल्लेख मिलता है। इस दृष्टी से मनरुपाडू या दण्डम् (अपराधियों से मिलने वाला अर्थदण्ड), कडमै (शुल्क), कुडिमै (लगान), शितायम तथा शिल्लिदै (छोटी उगाहियां) आदि उल्लेखनीय हैं। नियमित करों एवं उगाहियों के साथ-साथ अभिलेखों में अन्य कई प्रकार के करों की एक लम्बी सूचि मिलती है। इनमें मरमंजाडि (प्रत्येक उपयोगी वृक्ष पर लिया जाने वाला कर), पाडिकावल (गांव की चौकीदारी का शुल्क), किडाकू-काशु (प्रति परपशु पर लगने वाला कर),कोल इरैप्पाट्टम (अर्क कलंजु कुमरकच्चानम, मीनपाट्टम, अरुंपाटम जैसे छोटे-छोटे कर), वाशल्तिरमम् (द्वारकर), मनैइरै (गृहकर), सुपारी के वृक्षों पर लगाया जाने वाला कर (कडमै), ममन्मै (बढ़इयों, सुनारों, लुहारों, कुम्हारों से वसूल किया जाने वाला कर), कडैइरै (दुकानकर), आजीवकक्काशु (आजीवकों पर लगाया जाने वाला कर) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। राजस्व अन्न, द्रव्य तथा मुद्रा के रूप में लिया जाता था। राजस्व के अन्य साधन वाणिज्य और उद्योग थे। करघों, कोल्हुओं, तालाबों और नदियों, नमक, बाट, बाजार आदि पर तरह-तरह के कर लगाये जाते थे। बहुत से स्थानीय कर भी होते थे। करके सम्बन्ध में दुर्भिक्ष आदि के समय में छूट भी दी जाती थी। आय का अधिकांश व्यय राजा, उसके परिवार, उसके अधिकारी तथा सेना पर होता था। शिक्षा, धर्मदेय, मन्दिरों के निर्माण आदि पर भी राजकीय व्यय उदारतापूर्वक किया जाता था।

सैनिक संगठन-चोल शासकों ने एक अति सुसंगठित सेना विकसित की। चोल लेखों में सेना के विभिन्न रेजीमेण्टों का उल्लेख किया गया है। चोल सेना के तीन अंग थे-हस्ति, अश्व तथा पदाति रथ सेना का प्रचलन नहीं था। चोल स्थल सेना में हस्ति सेना की प्रधानता थी। चोलों के पास एक अति सुगठित नौसेना भी थीं। नौ-सेना में विभिन्न प्रकार की नावें तथा जहाजें रही होंगी। चोल नौसैनिक संगठन तथा उसकी युद्ध प्रणाली के विषय में कोई स्पष्ट जानकारी नहीं है। कुछ लोगों का विचार है कि व्यापारिक जहाजों का उपयोग सेना के आने-जाने में किया जाता था तथा चोल नौसैनिकों के युद्ध एक प्रकार से जहाजों की छतों पर लडे जाने वाले स्थल युद्ध ही थे। चोल सैनिक युद्धों के साथ-साथ समुद्री व्यापार में भी मदद करते थे। चोलों की समूची सेना छोटे-छोटे गल्मों और छावनियों में बंटी रहती थी। सेना में अनेक ब्राह्मण सेनापतियों की उपस्थिति के प्रमाण मिलते हैं। प्रसिद्ध होने पर इन्हें ब्रह्माधिराज की उपाधि दी जाती थी। चोल सैनिकों के परीक्षण की। समचित व्यवस्था रहती थी। विभिन्न सैन्याधिकारियों को नायक, सेनापति तथा

महादण्डनायक कहा जाता था। राजा इन सबसे महत्वपूर्ण होता था तथा यही सेना का प्रधान माना जाता था। वह स्वयं युद्धों का संचालन करता था तथा इसमें सक्रिय रूप से भाग लेता था।

प्रान्तीय शासन-सम्पर्ण चोल साम्राज्य अनेक मण्डलों में विभक्त था। इन मण्डलों की संख्या लगभग 8 थी। प्रत्येक मण्डल राजा द्वारा नियक्त वायसराय के अधीन था। प्रत्येक मण्डल में अनेक कोटम थे। प्रत्येक कोट्टम अनेक नाडुओं में विभक्त था। एक नाडु में अनेक कुर्रम होते थे। कुर्रम कई ग्रामों के समूह को कहते थे। प्रशासन चलाने के लिये न केवल राजकीय पदाधिकारी होते थे अपितु जनता की सभायें भी होती थीं। नारी सभा को नादर कहा जाता था। नगर और ग्राम में क्रमश: नगस्तार और उरार नामक सभायें थीं। ब्राह्मणों को में दिये गये ग्राम को चतर्वेदिमंगलम कहा जाता था आर इसका व्यवस्था ब्राह्मणों की सभा करती व्यापारियों तथा शिल्पियों की सभा को श्रेणी अथवा पूग कहा जाता था।

स्थानीय प्रशासन अथवा स्वायत्त प्रशासन - चोल शासन प्रणाली की एक प्रमुख विशेषता तत्कालीन चोल साम्राज्य में विकसित स्थानीय स्वशासन प्रणाली तथा उसके संगठन में दृष्टिगत होती है चोल नरेशो ने स्थानीय मामलों की प्रशासन व्यवस्था के लिये एक उच्च स्तरीय समिति प्रणाली को लागू किया जिसे 'वारियम' कहा जाता था। स्थानीय शासन मुख्य रूप से ग्राम सभाओं, नगर सभाओ तथा नाडु सभाओ द्वारा संचालित होता था इनमें ग्राम तथा नगर सभायें ही वास्तविक तथा मुख्य शासिका थी|नाडु सभा तो प्रतिनिधि संस्था मात्र थी। ग्राम शासन मूलतः सभाओं द्वारा संचालित होता था। ग्राम का प्रत्येक वयस्क व्यक्ति इन सभाओ का सदस्य होता था। सभाओं के अपने अध्यक्ष, समुदाय तथा निगम थे। प्रत्येक संगठन किसी विशिष्ट संस्था या कार्य की निगरानी करता था। चोल अभिलेखों में तीन प्रकार की ग्राम सभाओं के उल्लेख मिलते है-उर सभा या महासभा तथा नगरम। नगरम व्यापारिक नगरों तक ही सीमित थीं। ये स्थानीय सभाये थी प्रशासनिक मामले में स्वतन्त्र थीं। राजा के कर्मचारी केवल इनकी गतिविधियों की निगरानी करते थे महत्वपर्ण विषयों पर विचार करते समय सभाओं में राजा के प्रतिनिधि भी उपस्थित रहते थे। विभिन्न प्रकारों और उनकी कार्य पद्धतियों के अनुशीलन के पूर्व कुछ संस्थाओं, जिन्हें हम निगम कह सकते हैं पर विचार करना आवश्यक हो जाता था। ये संस्थायें व्यक्तियों की भांति कार्य करती थीं ये क्रय-विक्रय करती थीं तथा एक दूसरों पर मुकदमा चला सकती थीं। इनका संगठन विविध कार्यों के लिये किया जाता था इसी प्रकार गांवों में अनेक प्रकार के स्थानीय तथा व्यावसायिक संगठन थे। गांव प्राय:शेरियों सड़को तथा खण्डों में बंटे थे। प्रत्येक शेरि में अनेक प्रकार के कार्यों के लिये अनेक प्रकार के संगठन थे। बढ़इयो सुनारो लुहारों, धोबियों आदि के भी संगठन (कलनै) होते थे। समुदायों को 'किल्क कलनैगल' कहते थे|

ऊर सभा तथा नगरम: ऊर – ऊर एक सामान्य प्रकार की ग्राम सभा थी जिसमें ग्राम, पुर,या नगर सम्मिलित थे | ऊरका सब्तिक तात्पर्य है 'पुर' | उर सभा का प्रमुख कार्य था अपने

प्रतिनिथियों से दस्तावेजों के मशोदे तैयार कराकर उसे लिपिबद्ध कराना| ऊर का प्रमुख कार्य सार्वजानिक हित के लिए तालाब अथवा कटिका हेतु ग्राम भूमि का अधिग्रहण करना, उसको मुक्त करना अथवा उस भूमि के लगान को स्वयं वसूल करना आदि था। **ग्राम सभा**-यह मूल रूप से अग्रहरों अथवा ब्राह्मण-बस्तियों की संस्था थी। इसे चोल साक्ष्यों में **'पुरुगरि'** कहा गया है। इसके सदस्यों को **'पेरुमक्कल'** कहा जाता था। सभा का संगठन जटिल होते हये भी ग्राम शासन की दृष्टि से महत्वपूर्ण था। वे **वारियम्** नामक अपनी विभिन्न समितियों के माध्यम से कार्य-संचालित करती थीं। सभा की कार्य समिति के सदस्यों को 'वारियप्पेरुमक्कल' कहते थे। सामान्यतः सदस्यों की कार्य-अवधि तीन वर्ष की होती थी। विधिवत् निर्वाचित सदस्यों में से तीस सदस्य कुडूम्बुओ अथवा बार्डो के लिये चुने जाते थे। सदस्यों का चुनाव लॉटरी विधि से सम्पन्न किया जाता था जिसे कुडूम्बुओ कहा जाता था।

सभा या महासभा एक प्रकार की गणतन्त्रात्मक सभा थी तथा इसे प्रशासनिक मामलों में पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। अपने गांव की जमीन पर इसका पूर्ण अधिकार था तथा इसके प्रशासन में यह पूर्णतया स्वतन्त्र थी। सभा अनेक रूपों में अपना कार्य सम्पन्न करती थी। सभा के पास अपनी सहकारी सम्पत्ति होती थी। यह सार्वजनिक दानों के लिये एक प्रकार से ट्रस्टी का काम करती थी। सभा मन्दिरों. धर्मशालाओं/चिकित्सालयों तथा वैद्यों के लिये अक्षयनिधियों की स्थापना के लिये प्रोत्साहित करती थी। भमि स्वामित्व तथा सिंचाई के लिये विशेष रुचि लेती थी। यह नकद अथवा उपज के रूप में कर-संग्रह करती थी तथा शासकीय खजाने में जमा करती थी। सभा सिंचाई तथा भूमि सम्बन्धी विवादों का निपटारा भी करती थी और आवश्यकता पड़ने पर सभा की भी सहायता करती थी। सभा गांव की रक्षा, सडक. मनोविनोद, कषि. अनाज को खेतो से खलिहानों तथा खलिहानों से बाजारों तक पहुंचाने आदि का प्रबन्ध भी करती थी। सभा को न्यायिक अधिकार भी प्राप्त थे तथा स्थानीय मुकदमे न्यायेतर स्तर पर तय कर दिये जाते थे।

नगरम-नगरम मुख्य रूप से व्यापारियों की सभा थी और यह ज्यादातर महत्वपूर्ण व्यापारिक नगरो में होती थी। इसके लिपिक तथा लेखाधिकारी क्रमशः नगरकरणात्तार तथा नगरक्कण्णक्क कहे जाते थे नगरम् बाजार में बेची जाने वाली विविध वस्तुओं जैसे फल, सुपारी, केसर, गन्ना आदि पर कर वसूलती था। इस साथ-साथ करघों, कोल्हुओं, स्वर्णकारों, दुकानों, हाथियों तथा घोड़ों के अस्तबलों से भी कर प्राप्त करती थी। नगरम की भांति नाडु की भी अपनी सभायें थीं। इसका मुख्य कार्य भू-राजस्व सम्बन्धी था। नाडु अपने नाम से दान देती थी तथा अक्षय निधियां ग्रहण करती थी। नाडु में अनेक ग्रामों का समूह अथवा 'कुर्रम समाहित होता था। अत: इसे चारम् तथा सभा या महासभा से बडी स्थानीय प्रशासन की संस्था माना जा सकता है

समाज-चोल शासित समाज में परम्परागत चारों वर्णों की अवस्थिति विशेष उल्लेखनीय है । रोमिला थापर का मत है कि इस काल में समाज में वर्णों की व्यवस्था में विशेष बल केवल

बाह्मणों एवं अबाह्मणों के विभाजन पर ही अधिक दिया गया था। ब्राह्मणेतर वर्णों में सक्रिय एवं वैश्य वर्गों को उत्तरी भारत की तुलना में दक्षिणी भारतीय चोल सामाजिक-व्यवस्था में विशेष महत्ता प्राप्त नही, परन्तु शुद्रों की सामाजिक स्थिति की चर्चा अनेकत्र मिलती है। वर्ण और जाति का व्यापक प्रभाव समाज पर होते हये भी पेशे के चुनाव के सम्बन्ध में जाति या वर्ण बाधक नहीं था। इण्णयिरम् एक प्रकार से ऐसे ब्राह्मण थे, जो प्रारम्भिक रूप से वाणिज्य कार्य ही करते थे, फिर भी ब्राह्मण के रूप में उनकी सामाजिक मान्यता कम नहीं थी। किन्तु अभी भी अधिकाशतः ब्राह्राण अभी भी अपने पारम्परिक षड़कर्म करते थे और अध्ययन अध्यापन, पौरोहित्य, कर्मकाण्ड तथा मन्दिरो में पुजारी का काम करते थे। चिकित्सा के क्षेत्र में भी ब्राह्मण नियोजित थे। अधिकांश धर्मदेय और अग्र्राहर ब्राह्मणों के ही नाम होते थे। ब्राह्मणों की उदार दृष्टि के बावजूद इस समय तक इनमें सामाजिक वर्जनशीलता की भावना काफी उग्र थी और वे ग्रामों में भी रहते हुये अपनी बस्तियां या निवास अन्य वर्गों से पृथक बनाते थे। उन्हें कुछ विशेषाधिकार भी राज्य की ओर से मिले थे. मख्यतया 'कर मुक्ति के सम्बन्ध में इनकी अपनी व्यवस्था के लिये सभा भी होती थी। पारम्परिक मिस्र वर्णों की मान्यता अभीभी थी और मिताक्षरा का न्याय में महत्व था। प्रतिलोम विवाह अब वर्जित न रह सके, अपितु कछ पेशेवर जैसे वर्धकी, तक्षक, स्वर्णकार और लोहकार समाज की संरचना में प्रतिलोम विवाहों का ही आधार या। रथकार और वास्तुकर्मी, स्थपित तथा शिल्पी और मूर्तिकार भी इसी वर्ग में आते थे। ब्राह्मणों का वह समुदाय जो मुख्यतया वैश्य कर्म करता था, उसे ब्राह्म वैश्य कहा जाने लगा। वैश्य के द्वारा क्षत्रिय कन्या से उत्पन्न जुलाहों के वर्ग में आते थे। ऐसे ही जुलाहों से यज्ञोपवीत का सूत्र लेना, ध्वजपट्ट लेना उचित माना जाता था। क्षात्र वर्ग राज्य शासन और सेना में वृत्ति पाता था। शूद्र पारम्परिक रूप से कृषक श्रमिक, भूमिदास अथवा अन्य सेवाकर्म में लगे थे।

इन पारम्परिक वर्ण या जाति विभाजनों के अतिरिक्त चोल समाज दो विशिष्ट वर्गों में विभाजित था जो बलंगे और अडंगै कहा जाता था। सामाजिक वर्ग-भेद में इसका क्या स्वरूप था, कहना कठिन है, किन्तु यह परस्पर विरोधी समुदाय थे, जो समय-समय पर उग्र संघर्ष किया करते थे। इस संघर्ष से सामान्य नागरिक तथा सेना पर भी कुप्रभाव पड़ता था। ये दोनों जाति वर्ग विभिन्न जातियों और उपजातियों के समूहों से थे। बलंगे की संरचना के विषय में विशेष जानकारी नहीं मिलती किन्तु यह विशेषतया राज्य संरक्षित था। अत: इसे दक्षिणावर्ती कहते थे। ऐसा सम्भव है कि इसमें ब्राह्मण सहित अन्य वर्ग के लोग सम्मिलित थे। इडंगै जाति समूह के विषय में एक अभिलेख में वर्णन मिलता है। यह अग्नि कुल से उत्पन्न थे और इसमें भी ब्राह्मण और क्षत्रिय तथा अन्य वर्णों के लोग थे। इनका बलंगै वर्ग से इतना विरोध था कि उन मन्दिरो में यह पूजा भी नहीं करते थे जिनमें बलंगै वर्ग के लोग पूजा-पाठ करते थे।

स्त्रियों को विशेष स्वतन्त्रता उपलब्ध थी। सार्वजनिक अवसरों पर इन्हें उपस्थित होने की पूरी छूट थी। सम्भ्रान्त वर्ग की स्त्रियों के पास अपनी सम्पत्ति भी होती थी। निम्न वर्ग की स्त्रियां

श्रमिक रूप में कार्य करती थीं। स्त्रियों को विवाह की मर्यादा का पालन करना पड़ता था। सामान्यतया एक पत्नी व्रत का निर्वाह पुरुष करते थे किन्तु राज्य वर्ग **में बहुपत्नीत्व** की भी प्रथा थी। सती प्रथा के कम उदाहरण मिलते हैं किन्तु वेश्यावृत्ति भी प्रचलित थी। मन्दिरों में **देवदासी** की भी प्रथा विद्यमान थी। नर्तकियों के रूप में स्त्रियों का आदर समाज में था और मन्दिर आदि के उत्सवों में वे भाग लेती थीं। चोल कालीन समाज में दास प्रथा विद्यमान थी। परन्तु दासों के साथ किसी प्रकार के अमानुषिक व्यवहार की सूचना नहीं मिलती है। क्रीतदास भी होते थे। भूमिदासों के भी प्रमाण मिलते हैं। श्रमिकों की आर्थिक स्थिति दयनीय थी। वे मजदूरी करके अपनी जीविका चलाते थे। चाण्डालों (अंत्यजों) के घर प्रत्येक दशा में बस्तियों से बाहर बने होते थे। उन्हें अस्पर्श तथा समाज में सबसे हेय सदस्य माना जाता था।

आर्थिक स्थिति-चोल शासन काल में कृषक उत्पादकों की ही अधिकता थी जो ग्रामों में निवसित थे भू-स्वामित्व व्यक्तिगत था। भूमि हस्तान्तरण बिक्री और दान के द्वारा वैध था।समाज में इन लोगों का विशेष आदर था जो कि अधिक से अधिक भमि के मालिक थे। ग्राम प्रबन्ध में मुख्यतया जमींदारों का ही हाथ रहता था। कुछ क्षेत्रो में , नीलकण्ठ शास्त्री के लेखानुसार सामूहिक भूमि स्वामित्व होता था। अधिकांश किसान भूमिहीन कृषक थे अथवा भूमिदास थे। राजकीय (सरकारी) प्रपत्रों में सभी करदाताओं के नाम दर्ज रहते थे। भूमिहीन किसाना का कोई लेखा-जोखा नहीं होता था। शिल्पियों के अधीन भी भूमि होती थी। ग्राम शिल्पी ग्रामों की छोटी-मोटी आवश्यकताओं की पुर्ति करते थे। ग्राम में निवास करने वाले छोटे किसानो और भूमिदासों तथा 'छोटे शिल्पियों की आर्थिक स्थिति दयनीय होती थी और उन्हे अपनी जीविका के निमित्य मुख्यता भूमिधर जमींदारों का मुख देखना पड़ता था। श्रमिक वर्ग दैनिक वृत्ति पर गुजारा करते थे जो कि मुख्यतया अन्न के रूप में देय होता था। इनकी बस्तियां भी ग्रामों में सम्भ्रान्त कृषकों एवं व्यक्तियों से दूर झोपड़पट्टी के रूप में होती थीं। कृषि के योग्य भूमि का बहुत बड़ा भाग मन्दिरों पर चढ़ाया होता था अथवा ब्रह्मदेय तथा अग्रहार के रूप में वितरित था। असामी प्रथा भी थी अर्थात बढे किसान अपनी भूमि पर खेती न करके उपकिसानों को खेती के लिये देते थे तथा उपज (पैदावार) में हिस्सा लेने थे | सेनिकों तथा सेनापतियों को भी वेतन के रूप में भूमि दिया जाता था। कृषि की व्यवस्था पर राज्य विशेष ध्यान देता था यह राजकीय आय का एक बहत बड़ा स्रोत भी था। ग्राम पंचायतों को नहरों एवं तालाबों की करनी पडती थी। सिंचाई के विभिन्न साधन प्रयोग में लाये जाते थे। चोल शासन में बंजर और जंगलो को कषि भमि में परिवर्तित करने का विशेष प्रयास किया गया। भूमि का वर्गीकरण उपज के आधार पर किया जाता था। पशुधन पर विशेष ध्यान दिया जाता था। उद्योग की स्थिति अच्छी थी। उद्योगों की खपत कुछ तो स्थानीय बाजारों के माध्यम से हो जाती थी और कुछ दूर-दूर के बाजारों में खप जाते थे। चोल अभिलेखों में विभिन्न प्रकार के बुनकरों, बढ़इयों, लोहारों, स्वर्णकारों एवं रत्नकारों का उल्लेख मिलता है | नमक के व्यापार और उत्पादन पर राज्य का नियन्त्रण था। व्यापारी संगठित थे और उनके विभिन्न प्रकार के शक्तिशाली संगठन थे जैसे मणिग्राम्म, बलंजियर, तेलकी आदि। सबसे प्रमुख वणिक्संस्थान

नाना देशी कहा जाता यह वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करते थे। राजा तथा प्रजा में इनका विशेष सम्मान था। किसी बडे नगर इनका कार्यालय होता था और अन्य स्थानों पर इनकी शाखायें होती थीं। सार्वजनिक लाभ के लिये इनके द्वारा अनेक कल्याणकारी कार्य सम्पादित किये जाते थे, जिनमें मन्दिर सम्बन्धी दान और मन्दिर निर्माण सम्मिलित था। उद्योग और व्यापार के लिये ऋण सुलभ था जिस पर 12% अथवा 15% ब्याज अदा करना पड़ता था। देश-देशान्तर की व्यापार की दृष्टि से चोल शासन में अधिक प्रगति हुयी। चोल नाविक और व्यापारी लंका. लक्षद्वीप, मालद्वीप के अतिरिक्त मलाया प्रायद्वीप तथा चीन के कैण्टनगर तक व्यापार करते थे। मुख्य बन्दरगाह जो इन समुद्री व्यापार के केन्द्र थे, महाबलीपुरम, कावेरीपट्टनम, सैलूर कोरकै आदि थे। विदेशी व्यापार के माध्यम से विभिन्न प्रकार के गन्ध, चन्दन, कपूर, रत्न, हाथीदांत के सामान, आबनूस, कागज, औषधियां आदि इस देश से बाहर जाती थी। पूर्वी द्वीप समूह से मसाले का व्यापार होता था। अरब देश से घोड़े का व्यापार होता था। चीन से रेशमी वस्त्र, रत्न आदि इस देश को आते थे। विनिमय के माध्यम के रूप में सिक्कों का व्यवहार होता था। सिक्के सोने और चांदी, दोनों के होते थे।

धर्म-चोल शासक शैव धर्म के अनुयायी थे। फलत: शैव धर्म का इस काल में अभूतपूर्व विकास हुआ तथा शैव धर्म के सन्दर्भ में चोल शासन रजतयुग माना गया। नरेश परान्तक के समय से ही शैव संतों तथा उनकी स्तुतियों और भक्ति गीतों की लोकप्रियता बढ़ती गयी। इन गीतों को इतनी मान्यता मिली कि उनको वेद जैसा महत्व दिया गया। भक्ति गीतों में शैव और वैष्णव दोनों संतों ने योगदान दिया। धर्म और शिक्षा के केन्द्र के रूप में मठ और मन्दिरों का विकास चोल सम्राटों के संरक्षण में विशेष रूप से हुआ जिसकी व्यवस्था के लिए 'देवारनायकर्म' अधिकारी नियुक्त किये गये थे। मन्दिर निर्माण के प्रति चोल राजाओं की विशेष अभिरुचि थी। अनेक चोलकालीन मन्दिरों पर शैव और वैष्णव देवताओं का मुर्तिगत अंकन समान रूप से किया गया मिलता है । चोल शासनकाल के वैष्णव सन्तों में रामानुज बडे प्रसिद्ध हुये। चोल नरेश जैन धर्म के प्रति भी सहिष्णु थे। जैन धर्म की अपेक्षा बौद्धधर्म की अवनति थी. किन्तु इनके प्रति भी चोल नरेशों का समादर भाव था।

साहित्य-संगम युग के पश्चात् तमिल और संस्कृत साहित्य की प्रगति का श्रेय चोल शास्त्र और संरक्षण को ही है। इस युग में तमिल चरित्र काव्य में विशिष्ट रचना हुयी । कलोत्तंग प्रथम के समय में जयनगाडार प्रसिद्ध कवि हुआ, जिसने 'कलिंगतुप्पराणि' की रचना की जो वीरगाथा काव्य के रूप में अन्यतम महत्व रखता है । कुन्तन एक दूसरा वीरगाथा कवि था, जिसने कुलोतुंग द्वितीय के सम्बन्ध में 'उला' वीरगीतों, की रचना की और राजराज द्वितीय के सम्बन्ध में परणि गीतों की रचना की। उसका 'तक्कयागपरिणि साहित्य की एक विशिष्ट रचना है। कम्बन, कुन्तन का समकालीन था उसका रामायण रामचरित की दृष्टि से महत्वपूर्ण तमिल काव्य है। कुलोत्तुंग द्वितीय के समय में कोक्किलार ने पेरियपराणम की रचना की। कुछ जैन कवियों ने भी तमिल साहित्य के

विकास में महत्वपुर्ण योगदान किया। तिलक्कटेव जीवक चिंतामणि एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। तोलामोलि नामक जैन कवि ने शूलामणि नामक ग्रन्थ की रचना की। अन्य स्फुट कवियों में कल्लाउनार, मुत्तोल्लाइरम, दवेन्द्रमुनिवर, बुद्धमित्र (जिसने वीर शोल्यम की रचना की), गुणवीर, पंडित आदि की गणना की जा सकती है जिनका तमिल साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा।

इस युग में संस्कृत साहित्य के प्रति लोगों में बड़ी रुचि थी। विभिन्न मठों एवं मन्दिरों में संस्कृत भाषा और साहित्य का पठन-पाठन होता था। वेदा के अध्ययन के प्रति बाह्मणों में बड़ी रुचि थी। इस युग में ही ऋग्वेद पर माधव ने भाष्य लिखा हरदत्त वृहत्स्वामिन् आदि प्रसिद्ध टीकाकार हुये। वहतस्वामिन ने सामवेद की टीका की। ऐतरेय बाह्मण और ऐतरेय आरण्यक ब्राह्मण, कात्यायन तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र तैयार हये। बाल भागवत् पुराण दसवीं शती में इसी क्षेत्र में लिखा गया। तेरहवीं शती के आरम्भ में विष्णु पुराण की भी टीका लिखी गयी| अन्य प्रसिद्ध संस्कत ग्रन्थों में जो इस युग में लिखे गये, मुक्तदानकाला, आश्चर्य चुडामणि.उन्माद बासवदत्त आदि हैं। वैजयन्ती नामक कोश भी इसी युग की देन है। इस युग में तमिल भाषा में भी कुछ कोश तैयार हुये जिनमें अमृतसागर विशेष विख्यात हुये। महाभारत का नाट्यरूपान्तर भी केरल के कुलशेखर मीमं प्रस्तुत किया।

वास्तु कला - प्रायः चोल नरेश कलाप्रेमी थे। इनकी कलाप्रियता इनके द्वारा बनवाये गये मन्दिरों में दृष्टीगत होती है। इनके द्वारा निर्मित भव्य मन्दिर न केवल उत्तम वास्तुकला के उदाहरण हैं, अपितु उत्कृष्ट मूर्तिकला और चित्रकला के भी प्रमाण हैं। पल्लवों के सदृश चोल भी दक्षिण के महान निर्माताओं में गिने जाते हैं इनके राजत्व में निर्मित प्रासाद तथा मन्दिर इनके साम्राज्य विस्तार एवं ऐश्वर्य के प्रतीक हैं। चोलों की प्रशाद क्रतियों को दो वर्गों में रखा जा सकता है, जिनका निर्माण नवीं शती ई० के उत्तरार्द्ध के बाद विजयालय के शासन से प्रारम्भ हुआ तथा दसवीं शती ई० तक चलता रहा, सीमित संख्या में मिले हैं। ये अधिकांशतः पुदुकोटम जिले में असाधारण रूप से अधिक संख्या में बनाये गये थे तथा अच्छी हालत में सुरक्षित हैं। इनमें प्रथम नार्तामलै का विजयालय चोलीश्वर मन्दिर है।

विजयालय चोलीश्वर मन्दिर- यह प्रारम्भिक चोल शैली का उत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है। इसका निर्माण चोल संस्थापक विजयालय के समय में हुआ। उसका निर्माण वर्गाकार प्रदक्षिणापथ (प्राकार) से घिर वर्तुलाकार गर्भगृह के साथ किया गया है। तिरुक्कट्टलैका सन्दरेश्वर मन्दिर-प्रारम्भिक चोल मन्दिरों के आदित्य प्रथम द्वारा निर्मित अनेक मन्दिरों में तिरुक्कट्टलैका सुन्दरेश्वर मन्दिर, कुंभकोणम् का नागेश्वर मन्दिर तथा कण्णनूर (युदुक्कोट्टा) का बालसुब्रह्मण्य मन्दिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कुंभकोणम् का नागेश्वर मन्दिर-कुंभकोणम का नागेश्वर मन्दिर भी इसी शैली में बना है। इसमें बाहरी दीवारों के ताखों में उच्च कोटि की मूर्तियां तक्षित

हैं। कण्णनूर का बाल सुब्रह्मण्य मन्दिर-बाल सुब्रह्मण्य मन्दिर की वास्तु शैली भी लगभग उपर्युक्त प्रकार की है। इसमें केवल एक अन्तर है कि मन्दिर की छत के किनारे चारों कोनों पर हाथियों का स्थान नन्दि की मूर्तियों ने ले लिया है तथा विमान के नीचे सुब्रह्मण्य का बाहन हस्तिन् है। श्रीनिवासनल्लूर का कोरंगनाथ मन्दिर-इसका निर्माण परान्तक प्रथम के शासनकाल (907-955 ई०) में किया गया था। इसमें वास्तुशास्त्रीय माप के अनुकूल गर्भगृह तथा मण्डप मिलकर 15 मीटर लम्बा रखा गया है। मन्दिर की दीवार के स्तम्भों से विभक्त करके उसकी आलों में बड़ी किन्तु सुन्दर मूर्तियां तराशी गयी हैं। तंजोर का बृहदीश्वर मन्दिर-बृहदीश्वर मन्दिर न केवल चोल साम्राज्य के वैभव का द्योतक, बल्कि दक्षिण भारत के वास्तुशिल्प की विशिष्टता का भी परिचायक है। राजराज प्रथम के गरिमा, साहस और समृद्धि का यह मन्दिर प्रमाण है। इसका निर्माण कार्य लगभग सात वर्षों में पूरा हुआ (1003-1010 ई०)। गंगैकोंडचोलपुरम का बृहदीश्वरम् मन्दिर-राजराज चोल के योग्य पुत्र एवं उत्तराधिकारी राजेन्द्र चोल (1014-1044 ई०) ने चोल साम्राज्य को राजनीतिक, सांस्कृतिक वैभव एवं सुयश की पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया था। उसने अपनी राजधानी गंगैकोंडचोलपुरम में 1025 ई० के लगभग अपने से पूर्व परम्पराओं के सर्वश्रेष्ठ शिव मन्दिर का निर्माण कराया। इस मन्दिर का आधार तंजोर के बृहदीश्वर मन्दिर के लगभग ही रखा गया है परन्तु मण्डप की ऊंचाई उससे थोड़ा कम है। वास्तु-योजना में इसे तंजोर के राजराजेश्वर मन्दिर की अनुकृति कहा जा सकता है, तथापि मौलिकता एवं सुन्दरता लाने के लिये इसमें आवश्यकतानुसार अनेक कलात्मक सुधार किये गये हैं। अन्य मन्दिर-राजेन्द्र चोल के समय प्रचलित चोल वास्तुकला लगभग एक शताब्दी तक चलती रही। फलत: इस अवधि में अनेक मन्दिरों का निर्माण किया गया। इनमें विशेष उल्लेखनीय दारासुरम का ऐरावतेश्वर तथा त्रिभुवनम् का कंपहरेश्वर मन्दिर हैं | यह मन्दिर तन्जोरजनपद में विद्यमान हैं। ऐरावतेश्वर मन्दिर राजराज द्वितीय चोल के शासन काल में निर्मित किया गया। कंपहरेश्वर मन्दिर का निर्माण कुलोत्तुंग के शासन काल में सम्पन्न हुआ। इन मन्दिरों की वाक एवं स्थापत्य विन्यास कला गंगेकोंडचोलपुरम के वृहदीश्वर मन्दिर के अनुसरण पर आधारित है।

मूर्तिकला-शक्तिशाली चोलों ने वास्तुकला के साथ-साथ द्रविड-स्थापत्यकला को समुन्नत किया। चोल कलाकारों को दीवारों की सादगी भी पसन्द थी अत: इस पर वे अनायास मूर्तियों एवं दृश्यों को अनुरोपित करने का अनावश्यक प्रयास नहीं किये। चोल कलाकारों ने अपने स्थापत्य कुशलता के प्रदर्शन के लिये न तो सुनारों की नक़ल की न हाथी दंत पर काम करने वाले कारीगरों की। इन्होंने इसके लिये मजबूत पत्थरों का उपयोग किया ताकि ये इनकी छेनी के तेज आघात को बरदाश्त कर सकें। इन्होंने इसके लिए पल्लव कलाकारों की भांति विशाल शिलापट्टों को न चुनकर छोटे-छोटे फलकों को चुना| अध्ययन की सुविधा के लिये चोल मर्तियों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है-मानवीय मूर्तियां, देवी प्रतिमायें तथा अलंकरण के लिये बनायी गयी मूर्तियां।

मानवीय मर्तियां-चोलों की मानवीय (व्यक्तियों की) मूर्तियां बहुत कम संख्या में मिलती हैं | जो मानवीय मर्तियां मिली हैं उनकी पहचान नहीं हो सकती है। यहां से अनेक परुष तथा नारि मूर्तियाँ मिली हैं | कोरंगनाथ के मन्दिर से तीन मूर्तियां मिली हैं जिनमें एक पुरुष की तथा दो स्त्री मुर्तियां हैं | चोल कलाकारों को मानवीय मर्तियों में सजीवता तथा स्वाभाविकता दर्शाने में सफलता मिली थी। इनके वस्त्राभरण , आभूषण आदि से पता चलता है कि अधिकांश मूर्तियां राजपरिवारों की हैं या उन व्यक्तियों की हैं जिन्होंने दान दिया था। मानवीय मूर्तियों में प्राचीनतम तिरुक्करल्लिपिच्चन की है।

देव प्रतिमाये - मानवीय मूर्तियों की अपेक्षा चोलों की देव प्रतिमायें एवं पौराणिक दृश्य अधिक सशक्त सजीव तथा आकर्षक हैं। चोल प्रतिमायें दो तरह की हैं -प्रस्तर प्रतिमायें तथा धातु प्रतिमायें। चोल प्रशासक अधिकांशतः शैव थे, फलतः शैव प्रस्तर प्रतिमाओं (मूर्तियों) का मूर्तन ज्यादा किया गया और इन्ही की प्रधानता रही। अंकन मन्दिरों में किया गया तथा स्वतन्त्र रूप में भी। वृहदीश्वर के देवालय में शिव के विविध रूपों में यथा-विष्णु, अनुग्रह, भिक्षाटन, वृषवाहन, त्रिपुरान्तक आदि का अंकन है। राजेन्द्र प्रथम के समय के निर्मित गंगैकोडचोलपुरम् के बृहदीश्वर मन्दिर में कई मूर्तियां मिली हैं। इनमें नटराज, जिसमें शिव के ताण्डव नृत्य को दर्शाया गया है, हरिहर तथा उत्तरी दीवार पर बनी चण्डेशानुग्रह मूर्तियां अति आकर्षक हैं। अपनी अर्धांगिनी पार्वती के साथ शिव अपने भक्त चण्डेश पर जिस प्रकार प्रसन्न है, उसे कलाकार ने बड़ी सफलता से प्रदर्शित किया है। प्रस्तर के साथ-साथ चोल कलाकारों ने धातु की सहायता से भी देवी-देवताओं की अनेक मूर्तियाँ बनायी। ये मूर्तियां अपनी भव्यता, तकनीक एवं निर्माण शैली के कारण अत्यन्त श्लाध्य हैं। प्रस्तर मूर्तियों से भी अधिक चोलकला में धातु अथवा कांस्य-मूर्ति-निर्माण कला सजी एवं संवरी थी। धातु-मूर्तियां चोलकला के सर्वोत्कृष्ट पक्ष को प्रकाशित करती हैं। इन कांस्य प्रतिमाओं में अव्वल दर्जे की नटराज की मूर्तियां हैं। नटराज शिव की एक महाउपाधि है। शिव नाट्यकला तथा संगीत कला के प्रथम प्रतिष्ठापक हैं। शिव की नट मूर्तियों में सृष्टि की उत्पत्ति, रक्षा एवं संहार सभी निगदित है। ये मूर्तियां न केवल दुनिया भर के सभी संग्रहालयों की शोभा बढ़ा रही हैं. प्रत्यत इनकी दक्षिण के मन्दिरों में आज भी पूजा की जाती है।

अलंकार प्रधान मूतियां-पौराणिक दृश्य आदि-अलंकरण प्रधान मूर्तियां तथा शिल्पों में गोपुरम क पार्श्व में बने हुये द्वारपालों का उल्लेख किया जा सकता है। विजयालय चालेश्वर के द्वारपाल तथा कंपहरेश्वर के द्वारपालों की मूर्तियां उल्लेखनीय हैं। देव-प्रतिमाओं के साथ-साथ मन्दिरों को नाना प्रकार की आकृतियों, प्राकृतिक दृश्यों, पशुओं के समूहों, उनके पारस्परिक शिकारों आदि के दश्य से भी जाना जाता था। मंदिरों पर पौराणिक दृश्य बनाये जाते थे तथा रामायण, महाभारत, शिव की लीला और सन्तों के चरित्र का अंकन किया जाता था।

चित्रकला-चोलों की शासनावधि में 'चित्रशाला' आदि का उल्लेख आता है। साहित्य में जिन चित्रों का उल्लेख किया गया है उनकी संरचना तमिल देश में हुई थी। पर इनमें से अधिकांश नष्ट हो गये थे । या उनका मूलरूप समाप्त हो गया है। कभी-कभी मूल आकर्षक एवं रमणीक चित्रों के ऊपर बिना उनके महत्व को समझे पुताई पर नये चित्र बना दिये गये। चोल चित्रकला के अधिकांश उदाहरण बृहदीश्वर मन्दिर की दीवारों में मिले हैं। चोल मूर्तिकला की भांति चोल चित्रकला भी स्वतन्त्र रूप से न विकसित होकर वास्तुकला के सहायक रूप में विकसित हुयी। अर्थात चित्रों का निर्माण स्वतन्त्र रूप से नहीं बल्कि मंदिरों के अलंकरण के लिये किया गया। यह अजन्ता, बाघ, बादामी, एलोरा की विख्यात चित्रकला से भिन्न है | मोटे पलस्तर पर महीन चूना पुता है। इसे पलस्तर सूखने से पहले पोता जाता था। चित्र गीले प्रस्तर पर ही बनाये जाते थे। कभी-कभी सूखी जमीन पर चूने के साथ रंग मिलाकर चित्र बनाये जाते थे। तंजोर में जिस चुने का प्रयोग किया गया है, वह पूरी तरह से बुझा हुआ था। यह सम्भवतः शंख, सीपी या चूना पत्थर की सहायता से लकड़ी की मन्द आंच में पकाया गया था। चित्रों में काले, पीले, लाल, नीले, हरे, पीताभ हरे तथा आसमानी रंगों का प्रायः प्रयोग किया गया है। चित्रों को इतनी सावधानी से बनाया गया है कि उनमें कहीं जोड़ नहीं दिखता। तंजोर मन्दिर में हमें चोल चित्रकला के अत्यन्त जीवन्त एवं कलात्मक उदाहरण मिलते हैं। इसकी पूरी छत तथा दीवार शायद किसी समय पूरी तरह से चित्रों से भरी थी। पर अब केवल इसके पश्चिमी तथा उत्तरी भित्तियों से ही ये उपलब्ध हैं। इसके मुख्य विषय धार्मिक हैं। पश्चिमी दीवार के फलक के ऊपर बाघम्बरासीन शिव का अंकन किया गया है। उनके सामने नन्दी है और दूसरी ओर ऋषि हैं। अन्यत्र अप्सरायें नत्य कर रही हैं। इसके नीचे भक्त सुन्दर मूर्ति का चित्र है। इस पर नटराज भी अंकित है। उत्तरी भित्तिका पर त्रिपुरान्तक के स्वरूप का बड़ा ही विराट उद्घाटन है। साथ ही, अन्य शिव परिवार के देवता-कार्तिकेय, गणेश आदि भी अंकित हैं।